REVIEW OF RESEARCH
ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.2331(UIF)
VOLUME - 7 | ISSUE - 5 | FEBRUARY - 2018

उत्तरी हिमाचल प्रदेश की लोक कला का सांस्कृतिक अध्ययन

डॉ. चित्रलेखा सिंह[1], रचना शर्मा[2]
[1]शोध निर्देशक,
[2] शोधकर्त्री,
ललित कला विभाग, आगरा कॉलेज , आगरा, उत्तर प्रदेश, भारत.

सारांश

भारत एक विशाल देश है। इसकी भौगोलिक विभिन्नताओं के मध्य ही भव्य संस्कृति का उद्भव हुआ, जिसे देखकर संसार विस्मित रह जाता है। संसार में यदि कहीं कला का उद्भव हुआ होगा तो देव भूमि भारत ही वह पवित्र स्थान हो सकता है जहां कला, साहित्य, संस्कृति अत्यधिक भिन्नताओं के कारण विकास की अनन्त ऊँचाईयों पर परिलक्षित होती है। संस्कृतियों का सौन्दर्य समन्वय के कारण और भी विस्मयकारी है। हिमाचलीय सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न अंग जनजीवन, रीति –रिवाज, वेश – भूषा, आभूषण, भाषा, लोक –नाट्य, लोक – गीत, लोक – नृत्य, त्यौहार, मेले, कला एवं धर्म सभी अपनी विशिष्टताएं लिए हुए है ओर समूचे राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन में विशेष स्थान रखते हैं। प्रस्तुत शोध प्रपत्र में विशेषतया उत्तरी हिमाचल प्रदेश के संदर्भ में हिमाचली लोक कला के विभिन्न सांस्कृतिक प्रारूपों को जैसे पर्व, संस्कार, त्यौहार, अनुष्ठान, लोक कला व अलंकरण संबंधी लोक कला का उल्लेख किया गया है।

सांकेतिक शब्द–लोक कला, सांस्कृतिक, संस्कार, त्यौहार, पर्व।

प्रस्तावना

हिमालय स्वयं भारत का निर्माता है, रक्षक है ओर पोषक है। भूगोल, इतिहास, संस्कृति, साहित्य और कला आदि का ऐसा अद्भूत सम्मिश्रण संसार के अन्य किसी भी पर्वत के साथ नहीं हुआ है जैसा हिमालय के साथ हुआ है। हमारे वेद, पुराण, उपनिषद, रामायण, माहाभारत जैसे रत्न भी हमें केवल हिमालय की कृपा से प्राप्त हो सके हैं। हमारे प्रचीन ग्रंथों में इसी कारण से हिमालय को भगवान की उपाधि से विभूषित किया गया है।

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि– सांस्कृतिक शब्द का अर्थ तथा क्षेत्र दोनों ही बहुत व्यापक है इसका शाब्दिक अर्थ है– 'संस्कार करना' सम् + कृ (सुधरना या परिष्कृत करना)। यह मानव जीवन के आध्यात्मिक एवं लौकिक पक्षों को परिष्कृत करती है। लौकिक पक्ष में भी यह उसके वैयक्तिक तथा सामाजिक रूपों को उजागर करती है। वस्तुतः इसका क्षेत्र इतना विशाल है कि इसमें मानव की समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियों का समावेश हो जाता है। प्रत्येक मानव समाज का प्रत्येक सांस्कृतिक तत्व उसके पूर्वजों की थाती हैं। उसके प्रति उसका मोह और अपनत्व भाव होता है।

इसलिए वह उसे सहज ही छोड़ने को भी तैयार नहीं होता है।

सांस्कृतिक सम्मिश्रण – हिमालयीन संस्कृति भारतवर्ष की संस्कृति का मुलाधार है क्योंकि भारत की हिमालय की चोटियों और तलहटियों में पनपकर समूचे देश में विकसित हुई।

लोक कला– आधुनिक कला में लोक शब्द के अर्थ को ग्राम या गंवारू कहकर भले ही उपेक्षित किया जाये, परंतु प्रागैतिहासिक से लेकर आधुनिक युग तक लोक संस्कृति कला और व्यवहार की अंतर्सार गर्भिता का जो यथार्थ मूल्यांकन है, वह तौलने, मापने ओर जांचने की वस्तु नहीं है। कला, ग्राम कला या नगर के प्रचलित कला का विकास क्षणों में नहीं हुआ और न ही अकस्मात् हुआ। प्रागैतिहासिक काल से लेकर अब तक लोक कला निंतर मानव जाति के विकास के साथ आगे बढ़ी है।

इस प्रदेश में पर्व – सज्ज संबधी लोक – कलाओं का अपना आकर्षण है। जन्म, मुण्डन, विवाह, व्रत– कथा, हवन तथा पर्व त्यौहारों पर इसके अनेक रूप देखने को मिलने हैं। हरे गोबर का मण्डप बनाकर गरू से आंगन– द्वार तथा कमरे के भीतर टेड़ी – मेड़ी सर्पाकार रेखाएं डालकर उन पर फूल– पतियोंऔर पूर्वादलों की पंखूड़ी डाली जाती है। वर – वधू जब नहा – धोकर वस्त्राभूषणों से सजी – बनी थाली में टीका, कुंगू – रोली, ज्योति आदि को कलापूर्ण ढंग से सजाकर पूजा कार्य में लगते हैं, तो सारा घर आंगन महक उठता है।

लोक जीवन और कला

भारत में लोक – कला को भी उसके वास्तविक अर्थों में स्त्रियों ने ही जिंदा रखा है। अपने प्रत्यक्ष अनुभवों में आने वाले नये – नये रूपों और रंगों के साथ प्रयोग करने का साहस उसमें मौजूद है और फिर भी वे युगों– युगों से चली आने वाली परंपराओं के साथ अपना संबध टूटने नहीं देतीं जिनकी उत्पति ऋतु परिवर्तन के साथ बदलने रहने वाले मनोभावों ओर उसके प्रति हमारी तीव्र क्रियाओं की मूल चेतना से होती है। प्रत्येक घर की सजावट की जाती है। बड़ी– बुढ़ियों से सीखी गई डिजाईनों से दीवारों को चित्रित किया जाता है। कभी – कभी तो बिल्कुल अपनी ही कल्पना से एक ऐसा रूप लोकनिर्मित किया जाता है जिसमें उसके अपने ही स्वप्न जगत के संगी – साथी निवास करते हैं।

लोक कला का एक अलग अभिव्यंजनापूर्ण रूप है, स्वरूप है– पर्वों के अवसर पर स्त्रियों द्वारा दीवार पर किया जाने वाला अलंकरण। मिट्टी के कच्चे फर्श पर पिसे हुए चावल के घोल से रेखाकृतियों का एक जाल– सा पूरा जाता है। इस रचना के भिन्न – भिन्न नाम हैं– बंगाल में अल्पना, बिहार ओर मध्य प्रदेश में अरीपना, राजस्थान ओर मध्य प्रदेश में मॉडन, गुजरात और महाराष्ट्र में रंगोली और दक्षिण में कोलम तथा हिमाचल प्रदेश में ऐपड़ के नाम से जाना जाता है।

संस्कारों से संबधित लोककला का रूप

जीवन को संस्कृत करने के लिए, श्रेष्ठ बनाने के लिए, कतिपय विधान किये जाते हैं। भारतीय परंपरा में इस प्रकार के सोलह संस्कारों का उल्लेख है। ये संस्कार है– गर्भाधान, पुसवन, सीमान्तानयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णबेध, उपनयन, वेदारंभ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास और अन्त्येष्टि।

हिमाचल प्रदेश में ये सभी सोलह संस्कार शायद ही कभी प्रचलित रहे हों, हां उनमें से किसी का कोई न कोई रूप अवश्य समाज ,द्वारा समादृत रहा है। मुख्य रूप से गर्भाधान, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह और अन्त्येष्टि संस्कारों का रिवाज रहा है। धीरे– धीरे जातक्रम, निष्क्रमण, और अन्नप्राशन भी लुप्त हो रहे हैं। अतः व्यवहार रूप से इस प्रदेश में नामकरण, चूड़ाकर्म, उपनयन और विवाह ये चार संस्कार ही होते हैं।

किसी भी क्षेत्र के निवासियों की संस्कृति वह सागर है, जिसके भीतर अमूल्य निधियां अन्तर्निहित रहती हैं। जिस प्रकार सागर की कोई परिभाषा पूर्ण नहीं होगी, उसी प्रकार संस्कृति को शब्दों की समी में बांधकर परिभाषा के बन्धक में डालना युक्तिसंगत नहीं होगा। परंतु इतना कहा जा सकता है कि जिस प्राकर दूध के कई रूपों में परिवर्तित होने पर उससे घी रूपी अत्युतम तत्व प्राप्त होता है, उसी प्रकार सभ्यता रूपी दुग्धों के परिवर्तन के परिणमस्वरूप निकला संस्कृति घी सद्श्य तत्व है। रीति – रिवाजों से लेकर साहित्य कला एवं धर्म सभी इसके अभिन्न अंग है।

देवी – देवता – मनन– चिन्तन और स्मरण मनुष्य के व्यक्तित्व के नैसर्गिक गुण है। मानवीय मन की ये तीन शाश्वत शक्तियां हैं मनुष्य मन से किसी वस्तु या भाव को ग्रहण करता है, बुद्धि से उसे समझता है आर चित्र से उसे याद रखता है। इन तीन स्वाभिक अन्तर्जात गुणों के कारण मनुष्य का मस्तिष्क प्रभावी शरीर अच्छे– बुरे, सत्– असत् , गुण – दोष, शुभ– अशुभ, हर्ष – शोक, जय – पराजय के विविध अंतर्द्वन्द्वों का युद्धक्षेत्र है। ऐसे अंतर्द्वन्द्वों से संत्रस्त मानव जब कभी अपने चारों ओर किसी असाधारण शक्ति को देखता है तब उस शक्ति के प्रति अनायास ही उसकी ही उसकी श्रद्धा उत्पन्न या भक्ति उत्पन्न होती है। साधारण स्थिति से भिन्न जो भी दृश्य मनुष्य देखता है और जो उसकी संकल्पना की परिधि से बाहर होता है, उसे वह अलौकिक की संज्ञा देता है और अलौकिक एवं अधिदैविक शक्ति के आगे उसका सिर तुरन्त झुक जाता है। मनुष्य को उनसे सुख की प्राप्ति और दुःख की समाप्ति की कामना होती है।

वैदिक देवताओं का क्या स्वरूप रहा है। इस पर अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार से विचार किये हैं। परंतु यह बात स्पष्ट है कि वैदिक काल में तीन देवता प्रमुख थे–

(1) पृथ्वी स्थानीय देवता, जो पृथ्वी पर रहते हैं। उनमें अग्निदेवता प्रमुख हैं।
(2) अन्तरिक्ष स्थानीय या मध्यस्थानीय देवता, जो आकाश और पृथ्वी के बीच वास करते है। इनका अधिष्ठाता वायु देवता या इन्द्र है, तथा
(3) द्युस्थानीय देवता अर्थात् स्वर्ग या आकाश के देवता। इनमें सूर्य का स्थान सर्वोपरि है।

अन्य सभी देवताओं को गौण मानकर इन तीनों के के अधीन ही प्रदर्शितकिया जाता है। सभी देवता प्रकृति के विभिन्न रूपों में प्रकट और प्रकाशित होने पर भी इनमें एक ही परमात्मा का निवास है। एक ही परमात्मा के दूसरे सब देवता विभिन्न अंग हैं। सभी देवता परमेश्वर की विशिष्ट शक्ति माने गये हैं।

पौराणिक देवता–पौराणिक युग में त्रिदेव – ब्रह्म, विष्णु और महेश का सर्वाधिक महत्व रहा है। उन्हें सृष्टि के उद्भव और प्रलय का देवता माना जाता है।

हिमाचल में देवता – प्रथा

भू– देवता– प्रकृति पूजा में पृथ्वी पूजा बहुत प्राचीन है। धरित्री माता अर्थात् धरती माता की भावना वैदिककालीन है। कालान्तर मे इसने अनक रूप धारण किये हैं। प्रकृति –पूजा में अग्नि में खाना खाने से पूर्व घी के छींटे डालना या प्रथम ग्रास आग में डालना पहाड़ी लोगों की कोई विशिष्ट बात नहीं है। ऐसे ही प्रथा नदी पूजा की है। भारी बाढ़ नदी देव का आक्रोश रूप है। उसे भी बकरे या भेड़ की बलि देकर शांत कराया जाता है। नदी या जल पूजा की तरह ही पर्वत या शिखर पूजा भी हिमाचल में प्रसिद्ध है। किन्नौर में सतलुज नदी के सत्रोत पर कैलाश शिखर हिन्दुओं और बौद्धों के लिए देवाताओं के समान पूज्यनीय है।

त्रिदेव– भारतीय समाज में से शिव ने शैव धर्म और विष्णु ने वैष्णव धर्म को जन्म दिया, परंतु आदि देव ब्रह्मा की सत्ता धीरे – धीरे अन्य दो की अपेक्षा कम होती गई। धर्म फिर भी हिमाचल प्रदेश में आज भी ब्रह्मा देव के रूप में स्थापित है और उनकी पूजा की जाती है।

मुख्य मेले– मेले इस प्रदेश के जन प्राण हैं, वे जीवन के अभिन्न अंग हैं इन्हीं अवसरों पर हिमाचलियों का नृत्य संगीत मुख्यतः सामने आता है। यदि मेले न हों तो यहां का जीवन शुष्क और नीरस हो जायेगा। कठिन भौगोलिक परिस्थितियों में जीवन बिताने वाले लागों के मनोरंजन के साधन ये मेले हैं। इन मेलों के अवसर पर ही वे जीवन की कठिनाइयों, प्रकृति के आकस्किम प्रकोप तथा दुःख तथा भूल वह नाच – गाने में अपने आपको खो देते हैं।

हिमाचली प्रदेश में मेले के लिए सामान्यतः जात, जातर अथवा शब्द का प्रयोग होता है। किसी गांव के साथ जातर जोड़ देने से उस मेले का नामकरण हो जात है यह स्थिति केवल लौकिक एवं सामाजिक तथा किसी सीमा तक व्यापारिक मेलों की है। बहुत बड़ी संख्या ऐसे मेलों की भी है, जिनके नाम पौराणिक, ऐतिहासिक एवं परम्परित है।

वर्गीकरण– इस प्रदेश के मेलों को मुख्य रूप में चार भागों मे बांटा जा सकता है–

1 धार्मिक ,
2 सांस्कृतिक, ऐतिहासिक अथवा पौराणिक,
3 व्यापार मेला और लौकिक, सामाजिक।

(1) धार्मिक मेले– प्रयाग के कुम्भ, अर्द्ध कुम्भ आदि के समान इस प्रदेश में कतिपय ऐसे मेले हैं जो निश्चित अवधि के पश्चात् होते हैं। जिनमें जग, भूँडा, गनेर, शोली या ठिरशु, जागरा, नचार की शान्द, मंडी में हुरंग का कैका, उद्यापन आदि सम्मिलित है।

(2) सांस्कृतिक, ऐतिहासिक अथवा पौराणिक मेले– एक दृष्टि से तो सभी मेले धार्मिक एवं सांस्कृतिक होते हैं। सभी किसी ने सिी देवता के सम्मान में मनाये जाते है किंतु दशहरा, दियाउडी (बूढ़ी दिवाली), गुग्गे के मेले, सुई मिंजर, रेणुका, नवरात्रे आदि मेलों में तुलनात्मक रूप से ऐतिहासिक एवं पौराणिकता का अधिक पुट है।

(3) व्यापार मेले– व्यापारिक वर्ग दिल्ली, हरियाणा, पंजाब तथा हिमाचल प्रत्येक भाग से आकर अपना माल बेचता है और यहां का माल खरीदते हैं किन्नर के व्यापारिक पशम, ऊनी वस्त्र, पटटु, पहिया, पूणे आदि खेती बाड़ी के लिए द्रान्त – द्रान्तियां, कुल्हाड़ियां आदि औजार लाते हैं। विनिमय के लिए यह मेला उपयुक्त है।

(4) लौकिक एवं सामाजिक मेले – हिमाचल के अधिकांश मेले इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इन मेलों का कोई विशेष धार्मिक, सांस्कृतिक अथवा व्यापारिक महत्व नहीं, ये केवल मनोरंजन के साधन हैं। इस श्रेणी में ग्राम, जातर, जान्य, शैरी, छिज आदि का आधिक्य है।

कुल्लु के मेले– 'फागली' फागुन मास में मनाये जाने के कारण इस मेले को फागली कहते हैं।
बिरशू मेला– वैशाख मास में होने वाले मेले को बिरशू कहते हैं। बिरशू मेले सारो जिला कुल्लू में होते हैं।
काहिका– कुल्लू क्षेत्र में मनाये जाने वाला विशेष मेला है। इसे प्रायश्चित यज्ञ भी कहा जाता है।
बढ़ी दिवाली – यह दिवाली प्राचीन काल से कुल्लू क्षेत्र में मनाई जाती है। इस दिवाली का दीपावली से कोई संबध नहीं
बंजार मेला – यह मेला ज्येष्ठ संक्रान्ति के तीसरे दिन मनाया जाता है। इसमें श्रृंगी ऋषि तथा इसी क्षेत्र के देवता सम्मिलित होते है।
कुल्लु का दशहरा– जिला में दशहरा ठाउवा (नगर) हरिपुर, वशिष्ठ, मणिकरण तथा कुल्लु (ढालपुर) में होता है। कुल्लु का दशहरा की अपनी परंपरायें तथा विशिष्टतायें हैं। शेष भारत की तरह न यहां रामलीला दिखाई जाती है न ही रावण, कुम्भकरण तथा मेघनाथ के पुतले जलाये जाते हैं। उत्सव आश्विन मास की दश्मी को आरंभ होता है जबकि सारो भारत में उस दिन यह समाप्त होता है।
पर्व– पर्व और त्यौहारों पर आम तौर पर लोग मंदिरों में देव पूजा के लिए जाते हैं कतिपय ऐसे अवसर भी हैं जब नदी सरिता नहाना पुण्य का काम समझा जाता है। पर्व और त्यौहार मुख्यतः वही है जो भरत के अन्य भागों में भी मनाये जाते हैं, किन्तु यहां प्रत्येक संक्राति भी एक प्रकार का पर्व है। विशेषतः बैसाख, जैठ, मार्गशीर्ष और माघ की संक्रान्तियों के दिन सगे – सम्बन्धियों को न्यौता दिया जाता है, कुल देवता की पूजा होती है, और देवालयों में भजन –कीर्तन होता है।सम्पूर्ण लाहौल क्षेत्र में एक उत्सव मनाया जाता है नव – वर्षारम्भ के रूप मं जिसे गहर, तिनन तथा तोद घाटियों में हालड़ा तथा पट्टन घाटी में खोगल के नाम से जाना जाता है, किन्तु नाम भेद के अतिरिक्त भी इन दिनों को मनाने की विधियां तथा रूप में भी स्थानीय अंतर पाया जाता है।
हालड़ा – इस प्रदेश में बौद्ध धर्म की प्रधानता के कारण यहां पर्व किसी जाति या वर्ग विशेष के न होकर संपूर्ण समाज के हुआ करते हैं। 'हालड़ा' का अर्थ है 'मशाल'। इसके लिए उस दिन देवदार की लकड़ियों को फाड़कर लम्बी– लंबी और पतली – पतली शालाकाएं बनाई जाती है।
खोगल–चद्रंभाग घाटी में खोगल हालड़ा का प्रतिरूप पर्व है। इस पर्व को चंद्रभागा घाटी में बड़े धूमधाम से मनाया जाता है। तिब्बती परंपरा के अनुसार, 'लौसर' नववर्षारंभ का पर्व है जो संपूर्ण घाटी में बड़े हर्ष व उल्लास के साथ मनाया जाता है। इसका निर्धारण लामाओं कि द्वारा तिब्बती पंचांग की गणना के अनुसार किया

जाता है। पारी यह एक नृत्य और संगीत भरा उत्सव है, जो अगस्त मास में उदयपुर में त्रिलोकनाथ के मंदिर में मनाया जाता है।

दशें– यह त्यौहार बसन्तागमन का स्वागत करने के लिए जुण्डा में मनाया जाता है। यह प्रचीन भारतीस उत्सव बसन्तागमन का ही प्रतिरूप है।

चेत्रोड़ी– यह एक कृषि से सम्बद्ध उत्सव है जो कि नई फसल की त्यारी के उपलक्ष में मार्च के महीने मे पट्टन में मनाया जाता है। वासा शांशा में योर के उत्सवकाल में ही एक उत्सव मनाया जाता है जिसे 'वासा कहा जाता है। इसका अर्थ है '' हँसी मजा या जोकरपना।''

शिशु जन्म– लाहौल में बच्चे के जन्म के संबंध में कोई विशेष संस्कार नहीं किया जाता है, और न ही जन्म से पहले गर्भरक्षा के लिए कोई उपचार किया जाता है।

नामकरण–माता – पिता या संबधीं उसका परम्परागत नाम रख लेते है। पुत्रजन्मोत्सव – पुत्री की अपेक्षा पुत्र – जन्म को अधिक महत्व दिया जाता है। मुण्डन संस्कार को 'काड़ो' या 'का नेल्डी' कहा जाता है। यह केवल लड़कों का ही किया जाता है, लड़कियों का नहीं। केश – विसर्जन– पट्टन में इन बालों को किसी कपड़े में बाँधकर या किसी अन्य पात्र में रखकर चीर (खूबानी) के वृक्ष पर या किसी ऊँचे स्थान पर रख दिया जाता है जहां पर किसी का पैर न पड़े।

त्यौहार

यह क्षेत्र पर्व और त्यौहारों की धरती है। यहां वैदिक ओर लोकधर्मी संस्कृति भावधाराओं से अनुस्यूत दोनों प्रकार के पर्व – त्यौहार प्रचलित है। ये हमारी सभ्यता एवं सांस्कृतिक परंपरा के प्रतीक है, प्रतिबिम्ब है, शताब्दियों से ये हमारे जीवन में प्रेरणा भरते आये हैं।

शिवरात्रि – इन पर्वों पर त्यौहारों में सर्वाधिक महत्व शिवरात्रि का है। यह त्यौहार समूचे प्रदेश में मनाया जाता है इसके मनानेके तरीके अलग – अलग है। काँगड़ा तथा शिवालिकीय क्षेत्र में इस दिन मंदिर में जाकर दूध, बेलपत्र आदि से शिव की पूजा की जाती है तथा उपवास रखा जाता है। कुल्लु, चम्बा, महासु और सिरमौर में इस दिन प्रायः सभी नर – नारी व्रत रखते हैं।

मिंजर – वरूण की पूजा विजय– समारोह और राजभक्ति के साथ मिंजर मेले में चमत्कार का समावेश भी हो गया। यह चमत्कार किसी सिद्ध महात्मा ने रावी के प्रवाह को ही बदलकर किया माना जाता है। रत्नी – करवा चौथ और हरितालिका तो समान्यतः विवाहिता स्त्रियों के त्यौहार हैं। काँगड़ा में रत्नी ऐसा त्योहार है, जिसे केवल अविवाहिता कन्यायें मनाती है। रत्नी वस्तुतः कन्याओं की वर – प्राप्ति का व्रत है। यह व्रत चैत्र के सारे महीने रखा जाता है।

कुल्लू के त्यौहार

भूंडा का त्यौहार– भारत में पहले नर बलि की प्रथा थी। भूंडा भी नर बलि का त्यौहार है कुल्लू जिला में इसे 'वला' तथा निरमंड में प्रमुख रूप से मनाया जाता है।

जन्माष्टमी – गांव सीस पांच हजार की ऊँचाई पर रूपी वैली में ठेला से करीब 7–8 कि. मी. पर स्थित है। जहां की भूमि बिलकुल समतल और ऊपचाऊ है। इस गांव में देवता जमलू के अन्य त्यौहार में जत्माष्टमी का उत्सव मनाया जाता है। यह उत्सव कृष्णा जन्माष्टमी से एक दिन पूर्व ही शुरू होकर तीन दिन तक चलता है।

अनुष्ठानिक लोक कला

पहाड़ी लोक चित्रकारी यहां दो विभिन्न रूपों में परंपरित हुई है। नैसर्गिक सताओं से सुरक्षा, जनन –क्षमता और बहु –प्रजता के लिए चित्रांकन का जो रूप उभरा है, वह विध्यात्मक है और उत्सवों तथा समाहरोहों पर मंगल कामना से चित्रकारी का जो रूप पंरपरित हुआ हुआ है वह अनुष्ठानिक है। इस प्रकार लोक चित्रकारी के दो रूप यहां परम्परित हुए है– विध्यात्मक और अनुष्ठानिक।

नैसर्गिक सताओं की विनाशकारी प्रखरता को शांत और सौम्य रखने की भावना से यहां अनेक विध्यात्मक व्रत लोक– व्यवहार में आये हैं वहां उन्हीं तत्वों का प्रतीकात्मक निर्वाह लोक चित्रकारी में भी हुआ

है। नैसर्गिक शक्तियों का विकराल रूप वर्षा ऋतु में भयंकर बाढ़ और भू– क्षरण की विनाशलीला के रूप में मानव आदिकाल से ही झेलता चा आ रहा है। अतः प्रकृतिक विपदाओं से मुक्ति के लिए विध्यात्मक व्रत भी अधिकतर इसी अन्तराल में पड़ते है।

पश्चिमी हिमाचल क्षेत्र मनाये जाने वाले प्रमुख त्यौहारों में दीवाली सम्भवतः सबसे उल्लासपूर्ण त्यौहार है। घर के बाहरी द्वार से पूजा स्थल तक का सारा पथ बहुत ही कलात्मक ढंग से बेल – बूटों से अलंकृत किया जाता है। इस कार्य के लिए सर्व– सुलभ गोबर, मकोल और लोसटी आदि रंगदार मिट्टियों का प्रयोग किया जाता है। अलंकृत पथ पर यथास्थान पद चिन्ह, अष्टदल कमल, स्वास्तिक और तारक आदि शुभ 'मोटिफ' अंकित किये जाते हैं

अष्टदल– जब भी कोई अनुष्ठान किया जाता है तो भूमि पर अष्टदल बनाया जाता है। यह अष्टदल, आटा, हल्दी और कुमकुम से तैयार किया जाता है।

ओंकार– इसके बाद ओंकार बनाते हैं जो बिंदु स्वरूप है। इसके तीन भाग शिव के तीन नेत्रों को प्रदर्शित करते हैं।

वसुधरा– हिमाचली क्षेत्र में जब किसी घर में बच्चे का जन्म होता है। खासकर पहला लड़का होने पर बसुधरा की पूजा की जाती है। इसका भी दीवार पर गोलू से अंकन किया जाता है तथा घी की सीधी धार से इसकी पूजा की जाती है।

बहूला चौथ– एक दिन बहूला नामक गाय जंगल से घर लौटनी हुई मार्ग में शेर की झपट में आ गई। उसने शेर से प्रार्थना की कि वह उसे एक दिन के लिए छोड़ दे ताकि वह घर जाकर अपने दूध पीते बछड़े को दूध पिला आये। शेर ने उसे शंकित मन, वचन लेकर छोड़ दिया। वचन के अनुसार गाय निश्चित स्थान पर पहुच गई। इंद्र देवता शेर के रूप में इससे बड़ा प्रभावित हुए और बहुला गाय को वरदान दिया कि सारा लोक इस दिन तेरी पूजा करेगा। इस व्रत से संबधित चित्रलेख छज पर (सूप) पर किया जाता है। छज को गोबर से लीपकर गोलू से पारंपरित कथ्य के अनुसार गाय, बछड़े, शेर, घर, सूर्य, तारे, अर्द्धचंद्र तथा बछड़े को दूध पिलाती गाय आदि चित्रित किये जाते हैं।

बच्छद्धाहा–बच्छद्धाहा द्वादशी के अवसर पर सहूकार और साहूकारिन तथा गाय, बैल आदि विषयों पर आधारित प्रतिमायें बनाई जाती हैं इनके अतिरिक्त गुथे हुए आटे से ज्यामितिक आकृतियों का निर्माण भी किया जाता है।

गणपति– किसी भी अनुष्ठान को करने से पहले गणपति या गणेश जी की स्तुति की जाती है, तभी कोई शुभ कार्य किया जाता है।

गो तृतीया– गो तृतीया के दिन देहरे के रूप में दीवार पर चित्र बनाये जाते हे। वर्गाकार रेखायें डालकर मध्य में आयताकार रूप में बेले – पते, फूल बिंदू रूप में शीर्ष पर गणेश और मूषक के चित्र बनाये जाते हैं, कहीं– कहीं पक्षी भी बनाये जाते हैं।

होई अष्टमी– होई अष्टमी व्रत संबधी चित्रलेखन भी परपंरित कथ्य रूपों में रूपायित करता है। इस व्रत से संबधित अनेक कथायें प्रचलित है। इस प्रकार है – '' होई एक अत्यंत भयानक तथा संहारक राक्षसी थी। वह लोगोंको नाना प्रकार के कष्ट दिया करती थी। एक दिन लोग इकट्ठे होकर उसके पास गये और दया की भीख मांगी। वह एक शर्त पर मानी कि उसे प्रतिदिन मनुष्य भेंट किया जाये। कालांतर में एक युवक की बारी आयी, जिसका निकट भविष्य में विवाह होने वाला था। माँ ने रोते हृदय से पकवान आदि देकर उसे विदा किया उसने होई के स्थान पर पहुंचकर वहां मीठे पकवान रख दिये और स्वयं झाड़ियों में छिप गया। होई प्रकट हुई और उसने पकवान खाये। लडका थरथराता उसके सामने गया ओर उसके पेरों में गिर पड़ा। होई ने उसे उठाया ओर वरदान दिया। युवक ने उससे नरबलि न लेने का वर मांगा। होई ने उसे वर देकर विदा किया।

निश्चित तिथि पर उसका विवाह संपन्न हुआ। ''उसी दिन से नरबलि का भयानक दिन 'होई अष्टमी के रूप में मनाया जाता है।

होई चित्र लेखन दीवार पर किया जाता है। इसमें होई माता, युवक, पकवान, डोली उठाये कहार, फूल – पते, सूर्य, चंद्र आदि के प्रतीकात्मक चित्र बनाये जाते हैं इसका विवेचन देशी– विदेशी ने बड़े विस्तार से किया है।

हिमाचली अलंकरण संबधी लोक–कला

अज्ञात समय से ही आभूषण–प्रेम स्त्री जीवन का अभिन्न एवं महत्वपूर्ण अंग रहा है। प्राचीन समय में स्त्रियाँ ही नहीं बल्कि पुरूष भी आभूषण का प्रयोग करते थे, जिसके अवशेष गले की स्वर्ण– सिंगी और कान की बालियों के रूप में अभी भी विद्यमान है, यद्यपि आभूषणों का संबध कला के विकास से अधिक है, किंतु मानवीय जीवन के रहन–सहन के विकास स्तर से सम्बन्धित होने के कारण इनाक सांस्कृतिक महत्व अधिक है।

व्यक्तिगत अलंकरण– पुरूष तथा स्त्रियां दोनों ही गहने पहनते थे, पुरूष नृत्य के समय अब भी गहने पहन लेते हैं। कानों की मुरकी, बाले, उँगली में अँगूठी तथा बाहू में खानागुन, सिर में टोपी पर तोड़ा, गले में कंठा पहनते हैं। परंतु अब पुरूष कान, गला, बाजू में आभूषण नहीं पहनते हैं। स्त्रियों में आभूषण की बड़ी विविधता है।

वस्त्र– सज्जा– लोग सादा, अच्छे नयन –नक्श वाले तथा दरम्यान कद के हैं। वर्तमान में पुरूषों का अन्य स्थानों में लिबासों में कोई अन्तर नहीं परंतु धोती का प्रयोग धार्मिक अनुष्ठानों में पुरूषों का अन्य स्थान किया जाता है। पुराना पुरूष का लिबास चोला, टोपी तथा सुथन था। कमर में चारों ओर डोरी बांधी जाती थी। तेह किया हुआ पटटू 'लाछू' कंधे पर डालते थे। स्त्रियां साड़ी इत्यादि का प्रयोग नहीं करती, अपने वस्त्रों के ऊपर स्त्रियाँ पट्टू लगाती है। विशेष अवसरों पर फूल वाले पट्टू लगाये जाते है। बाहरी सियाज में स्त्रियाँ वास्कट अवश्य पहनती है। सिर के आवरण 'ढोठ' या 'थिपु' है। यह चौकोर रूमाल होता है।

बिन्दी– उपरी लाहौल में बिन्दी का प्रचलन नहीं है। केवल शौक के तौर पर स्त्रियाँ बिन्दी लगाती है, जबकि कुल्लू काँगड़ा आदि जगहों पर बिन्दी को सुहाग की निशानी समझा जाता है माँग में सिंदूर, माथे पर बिन्दी अच्छा समझा जाता है, खासकर स्त्रियाँ पर्व– त्यौहारों आदि पर बिन्दी जरूर लगाती हैं।

चूड़ा– हिमाचल प्रदेश में चूड़े का बहुत महत्व हैं लड़की के विवाह के समय में चूड़ा मामा की ओर से आता है। शादी वाले दिन मामा और मामी चूड़ा लेकर आते हैं। विवाह वाले दिन पहले पुरोहित इसकी पूजा करते हैं, फिर मामा ही लड़की को चूड़ा पहनाता है।

चित्रकला के साधन– पर्व त्यौहारों पर स्थानीय स्त्रियों को लोक –कला , यथा – चित्रकारी, नृत्य–संगीत आदि संबधिंत रूचियों कीी अभिव्यक्ति को विशेष अवसर मिला है। गोलू (स्थानीय सफेद मिट्टी) एवं चालीट्ठा से वृताकार, तिकोने एवं चतुर्भजात्मक गोबर से पोते मंडपों में विभिन्न प्रकार की चित्रकारी करती अपने अनुभवों का परिचय देती है। प्रत्येक गृहद्वार, आँगन एवं कमरों में पँखड़ी डालती युवा बालिका – वधुएँ परंपरागत संस्कारों की पुनरावृति देती संपूर्ण लोक की धार्मिक भावनाओं को सजीव बनाती है। पायजेब, गोजरू, कड़िया, नथ– बालू तथा फुत्नियाँ पहने प्राकृतिक ताल से ताल मिलाती, हाथ में गडवा, धूप, दीप, पूर्वा, केसर, रोली, वस्त्र तथा भोग भरी थाली लिए मधुर गीत गाती, गांवों के `दवालयों को पूजार्थ जाती ग्राम्य गोरियाँ, कौन–सा चित्र प्रस्तुत करती हैं, उपमा नहीं मिलती।

लीला गोदना– इस प्रदेश में गोदना अर्थात शरीर पर मोर, तीतर, फूल– पते, अर्द्धचन्द्र, सूर्य, सिंह तथा नाम आदि गुदवाने की परंपरा मिलती है। जनजातीय स्त्रियाँ –पुरूष बड़े चाव से गुदवाते हैं। स्त्रियाँ इस कलाप्रियता की असहनीय पीड़ा को दाँत तले दबाती बड़ी रूचि से ठोडी– बाजू आदि अंगों पर गोदना गुदवाती नहीं थकती। इस कला में उनका विश्वास तथा आदिम परंपरायें प्रतिबिम्बित होती है।

मेंहदी माड़ना– मेंहदी तथा व्यूर (स्थानीय मेंहदी) द्वारा भी स्त्रियाँ हाथों एवं पैरों में मेंहदी लगवाती है। अनेक प्रकार की फूलकारी करती है इसके द्वारा भ्झी उनकी चित्रकला अभिरूचि तथा स्वयं को सजाने– सवारने के संकेत मिलते हैं।

निष्कर्ष

भारतीय समाज में लोक– कला के असंख्य उदाहरण प्राप्त है। घर आंगन की भितियों पर बने चित्र, सिंधु नदी की सभयता के समय मिले कुछ मृण – पात्रों पर चित्रित लोक चित्रों में भी एक लोक– परंपरा परिलक्षित होती है। अजंता के भिति चित्रों में अनेक ऐसे सूत्र छिपे हैं जहां तत्कालीन लोक– कला की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। राजपूत कला के विकास में लोक– कला के रंगों, तल व्यवस्था तथा फूल –पती की सजावट का योग था। यह अलवर, मेवाड़, बँदी, चम्बा, कुल्लू व काँगड़ा के कला – वैभव से स्पष्ट है।भारत अपनी कला परंपराओं में अनूठा देश है। संसार के अन्य किसी भी देश ने अपनी प्रचीन परंपरा व कला के इतनी दृढ़ता व उत्साहपूर्वक सुरक्षित नहीं रखा है, जितनी कि भारत ने। हमारी प्रचीन गौरवशाली ललित कलाओं के साथ– साथ आज समस्त जनजीवन में उपलब्ध लोक – कलाओं का भी विशेष महत्व है।

संदर्भ सूची

- अग्रवाल, डॉ. गिर्राज किशोरः कला और कलम
- अग्रवाल, गिर्राज किशोरः कला निबन्ध
- अग्रवाल, गिर्राज किशोरः कला समीक्षा
- उपाध्याय, भगवतशरणः सांस्कृतिक भारत (1955)
- कुटलैहड़िया, ध्यान सिंहः हिमाचल की लोक गाथाएं
- कश्यप, डॉ. पदम चंदः हिमाचल प्रदेश– ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन
- ठाकुर, श्री मौलूरामः 'हिमाचल के पूजित देवी–देवता
- ठाकुर, एस. एस. एस. : हिमाचल लोक लहरी
- पांडेय, डॉ. राजबली : हिंदू संस्कार
- मजूमदार, डॉ. एन. : भारतीय संस्कृति के उपादान
- वैद्य, किशोरीलाल : हिमाचल की लोक कथाएं
- शर्मा, मनोहर : कहानी हिमाचले दी
- शर्मा, डॉ. गौतम : हिमाचल प्रदेश – लोक संस्कृति और साहित्य
- शर्मा, डॉ. गौतम (व्यथित) : इतिहास एवं संस्कृति